(१४) सांख्य-दर्शनम्

तत्त्वद्वयं स पुरुषः प्रकृतिर्द्वितीया
धत्ते गुणानपि च सत्त्वरजस्तमांसि ।
सर्वं जगच्चलति तत्परिणामरूपं
तत्सांख्यकारमिह तं कपिलं नमामि ॥—ऋषिः ।

(१. सांख्य-दर्शन के तत्त्व)

अथ सांख्यैराख्याते परिणामवादे परिपन्थिनि जागरूके कथंकारं विवर्तवादः आदरणीयो भवेत् । एष हि तेषामाघोषः । संक्षेपेण हि सांख्यशास्त्रे चतस्रो विधाः संभाव्यन्ते । कश्चिदर्थः प्रकृतिरेव, कश्चिद्विकृतिप्रकृतिश्च, कश्चिद्विकृतिरेव, कश्चिदनुभय इति ।

सांख्य-दार्शनिकों का कहा हुआ परिणामवाद है, इस विरोधी सिद्धान्त के जगे रहने पर भी [पाणिनि-दर्शन का] विवर्तवाद कैसे सम्मानित हो सकता है ?—उन सांख्यों का यही नारा है । संक्षेप में सांख्य-शास्त्र में [कहे गये पदार्थों के] चार प्रकार हो सकते हैं—कुछ पदार्थ केवल प्रकृति (मूल रूप है), कुछ प्रकृति और विकृति दोनों हैं, कुछ केवल विकृति ही हैं और कुछ पदार्थ दोनों में से कुछ भी नहीं (=पुरुष) ।

विशेष—जब सत्तायुक्त (existent) द्रव्य एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में प्रवेश करता है तब इस क्रिया को **परिणाम** या विकास (evolution) कहते हैं, सांख्यों का मत है कि प्रकृति-आदि तत्त्व अपने-अपने कार्य के रूप में परिणत होते हैं । कार्य की सत्ता कारण के रूप में है जो निमित्त कारण के व्यापार से अभिव्यक्त हो जाता है । इसे सत्कार्यवाद कहते हैं । इसी के आधार पर ये लोग परिणामवाद भी मानते हैं । इसमें कारण की अवस्था तथा कार्यावस्था, दोनों दशाओं में द्रव्य सत्तायुक्त ही रहता है । विकार, परिणाम, विकास, अभिव्यक्ति, सत्कार्य—ये एकार्थक शब्द हैं, इनमें किसी वाद से सांख्य का ही बोध होता है । **विवर्तवाद** परिणामवाद का उलटा है । जब द्रव्य अपना पहला रूप न छोड़े किन्तु किसी भिन्न असत् रूप में दिखलाई पड़े तो इसे विवर्त कहते हैं जैसे रस्सी (मूल रूप) का साँप के रूप में दिखलाई पड़ना।

इसमें वास्तविक परिवर्तन नहीं होता किन्तु भ्रान्ति से वैसा रूपान्तर केवल प्रतीत होता है। वैयाकरण तथा अद्वैत वेदान्ती लोग विवर्तवाद मानते हैं। उनका कहना ब्रह्म अधिष्ठान (आधार, मूल तत्त्व) है, यह सम्पूर्ण संसार उसी ब्रह्म का विवर्त है—भ्रान्ति से प्रतीत होता है कि यह जगत् ब्रह्म से पृथक् है, यहाँ नाना प्रकार की सत्तायें हैं आदि। वैयाकरण शब्दतत्त्व को ही ब्रह्म कहते हैं, यह दूसरी बात है। वेदान्तसार में सदानन्द ने दोनों वादों का अन्तर बहुत संक्षिप्त और सुन्दर रूप में स्पष्ट किया है—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः॥

तत्त्व के साथ (वास्तव में) दूसरे रूप में समझना विकार है, तत्त्व के बिना (भ्रम से) दूसरे रूप में समझना विवर्त कहलाता है।

(२. प्रकृति का अर्थ)

तत्र केवला प्रकृतिः प्रधानपदेन वेदनीया मूलप्रकृतिः। नासावन्यस्य कस्यचिद् विकृतिः। प्रकरोतीति प्रकृतिरिति व्युत्पत्त्या सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्थाया अभिधानात्। तदुक्तं—'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सां० का० ३) इति। मूलं चासौ प्रकृतिश्च मूलप्रकृतिः।

महदादेः कार्यकलापस्यासौ मूलं न त्वस्य प्रधानस्य मूलान्तरमस्ति। अनवस्थापातात्। न च बीजाङ्कुरवदनवस्था-दोषो न भवतीति वाच्यम्। प्रमाणाभावादिति भावः।

इनमें केवल प्रकृति का अर्थ है 'प्रधान' के नाम से पुकारी जानेवाली मूल-प्रकृति। यह किसी भी दूसरे पदार्थ की विकृति (विकार) नहीं है। जो प्रकृष्ट रूप से (तत्त्वों का उत्पादन करते हुए) कार्य करे (प्र + √कृ) वही प्रकृति है—इस प्रकार की व्युत्पत्ति (निर्वचन) से सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था का बोध होता है' कहा भी है—'मूल-प्रकृति बिना विकृति के ही है' (सां० का० ३)। वह इसलिए मूल प्रकृति कहलाती है कि वह मूल भी है और प्रकृति (उत्पादक) भी।

महत् आदि कार्य-समूह का मूल (Root) वही प्रकृति ही है किन्तु इस प्रधान का कोई दूसरा मूल (कारण) नहीं। [यदि इस प्रधान के भी कारण

की खोज करेंगे तो] अनवस्था-दोष होगा। [प्रकृति का कारण खोजने पर उस कारण का भी कोई दूसरा कारण होगा—इस कारण-शृङ्खला का कहीं अन्त नहीं होगा, इसलिए कहीं पर ठहरना आवश्यक है। मूल-प्रकृति को ही अंतिम कारण मान लेने से अनवस्था-दोष नहीं लगेगा।]

'बीज और अंकुरमें जिस प्रकार अनवस्था-दोष नहीं लगता उसी प्रकार यहाँ भी नहीं होगा'—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता, यही अभिप्राय है। [बीज का कारण अंकुर है किन्तु अंकुर का कारण दूसरा ही बीज है, वह बीज नहीं। उस बीज का कारण भी दूसरा ही अंकुर है, वह अंकुर नहीं। इस प्रकार अनवस्था होने पर भी दोष नहीं होता क्योंकि प्रत्येक की गति में अन्तर है। उसी प्रकार यहाँ भी अनवस्था दोष के रूप में नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाण से दो पदार्थों में परस्पर कार्यकारण भाव सिद्ध हो जाता है वहाँ 'उन दोनों पदार्थों में कौन प्रथम है' इस प्रकार की जिज्ञासा होने पर प्रवाह को अनादि मान लेने से अनवस्था-दोष नहीं लगता। बीजांकुरन्याय इसे ही कहते हैं। प्रस्तुत स्थल में 'प्रधान या प्रकृति का अमुक कारण है' इस तरह का प्रमाण कहीं नहीं मिलता। इसलिए कार्य-कारण-भाव अप्रामाणिक है और अनवस्था-दोष हो ही जायगा।]

विशेष—प्रकृति में दो शब्द हैं—प्र और कृति। प्र का अर्थ है प्रकर्ष। दूसरे तत्त्व का आरम्भ करना प्रकर्ष है। जिस कारण से दूसरा तत्त्व उत्पन्न होता है उसे प्रकृति कहते हैं। मिट्टी के घड़े में पृथिवी से किसी दूसरे तत्त्व की उत्पत्ति नहीं होती, न मिट्टी ही कोई दूसरा तत्त्व (घड़े के रूप में) उत्पन्न करती फिर भी मिट्टी को घड़े की प्रकृति कहते हैं। यहाँ प्रकृति का अर्थ उपादान-कारण समझते हैं और ऐसा व्यवहार लोक में चलता है। परंतु शास्त्रीय दृष्टि से तत्त्वान्तर को आरंभ करने वाली ही प्रकृति होती है। प्रकृति से इन पदार्थों का बोध होता है—प्रधान (मूल प्रकृति), महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र। इनमें प्रथम पाँच केवल या शुद्ध प्रकृति है. पिछली सात प्रकृतियाँ समय पर विकृतियाँ भी हो जाती हैं क्योंकि ये मूल-प्रकृति से उत्पन्न होती हैं। इनका वर्णन पीछे मिलेगा। अभी मूल-प्रकृति का वर्णन करें।

मूल-प्रकृति का दूसरा नाम प्रधान भी है। तीनों गुणों (सत्त्व, रजस् और तमस्) के रूप में यह प्रधान रहता है। प्रधान की स्थिति में ये तीनों गुण बिल्कुल बराबर-बराबर रहते हैं। इसीलिए उन तीनों को पहचानना कठिन हो जाता है कि अमुक सत्त्व है और अमुक रजस्। इसलिए वहां (मूल-प्रकृति में) तीन तत्त्वों का प्रयोग न होकर एक तत्त्व का ही व्यवहार चलता है। ये तीनों

गुण द्रव्य हैं क्योंकि न केवल महत् आदि तत्त्वों के उपादान कारण हैं, अपितु संयोग और विभाग के आश्रय भी हैं। पुरुष के भोग के लिए ये साधन हैं तथा गौण रूप में हैं, इसीलिए इन्हें **गुण** कहा जाता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ये प्रकृति के धर्म (Qualities) हैं। प्रकृति इन गुणों से पृथक् नहीं है—प्रकृति का अर्थ है तीनों गुणों की साम्यावस्था और तीनों गुणों की साम्यावस्था का अर्थ है प्रकृति। दोनों में स्वरूप का संबन्ध है। सांख्य-प्रवचन-सूत्र (६।३९) में लिखा है—**सत्त्वदीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्**। 'प्रकृति के गुण हैं' ऐसा व्यवहार 'वन के वृक्ष' की तरह ही औपचारिक (Formal) है।*

पुरुष के संयोग से गुणों में वैषम्य आता है। इस दशा में प्रत्येक गुण पहचानने योग्य हो जाता है। यह एक प्रकार का परिणाम है जिसमें लघुत्व, प्रकाश आदि फल लगते हैं। प्रकृति की अपेक्षा वैषम्यावस्था के तीनों गुण पृथक् हो जाते हैं। कुछ सांख्यों ने तो इनकी भी गणना करके अपने तत्त्वों की संख्या अट्ठाईस पहुँचा दी है। सत्त्व आदि गुणों के कुछ अपने स्वभाव भी हैं जो इस प्रकार हैं—

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥
(सां० का० १३)।

सत्त्वगुण हल्का और इसीलिए प्रकाशक माना जाता है, रजोगुण चंचल तथा इसीलिए उत्तेजक (उपष्टम्भक) है, तमोगुण भारी अतएव अवरोधक (नियामक) है—एक ही प्रयोजन की सिद्धि के लिए ये तीनों मिलकर काम करते हैं जैसे दीपक में अग्नि बत्ती और तेल का विरोधी है फिर भी तीनों मिलकर वस्तुओं के प्रकाशन का कार्य करते हैं।

सत्त्व हल्का होने के कारण अपने कार्य—इन्द्रियों—में विषय-ग्रहण की पटुता उत्पन्न करता है। इसके प्रकाशक होने के कारण इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का प्रकाशन कर लेती हैं। रजस् स्वभावतः चंचल है। सत्त्व और

---

* गीता (१४।५) में जो कहा है कि—'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।' यहाँ गुण का अर्थ प्रकृति के स्वरूप के रूप में गृहीत गुण नहीं है, किन्तु इन गुणों के कार्य के रूप में जो वैषम्यावस्था से युक्त सत्त्व आदि हैं उन्हीं का बोध इससे होता है। ये गुण ही महत् आदि के कारण हैं। यदि प्रकृति के स्वरूप वाले गुणों का अर्थ होता तो प्रकृति से उत्पन्न होना संभव ही नहीं था—ये गुण नित्य हैं। इस प्रकार गुण शब्द के विभिन्न अर्थ प्रयुक्त होते रहे हैं।

तमस् स्वभावतः निष्क्रिय हैं अतः अपने आप प्रवृत्त नहीं होते। प्रवृत्ति प्रदान करने का धर्म ही 'उपष्टम्भक' है। तमस् गुरु है जिससे इसके प्रकर्ष के कारण सत्त्व और रजस् बँध जाते हैं, आगे चल नहीं पाते। यही उसका आवरक या अवरोधक धर्म है।

सत्त्व के धर्मों में सुख, प्रसाद, प्रकाश आदि हैं। रजस् के धर्म दुःख, कालुष्य, प्रवृत्ति आदि हैं। तमस् के धर्म मोह, आवरण, स्तम्भन आदि हैं। धर्म और धर्मी में अभेद मानकर सत्त्व को सुखात्मक, रजस् को दुःखात्मक तथा तमस् को मोहात्मक भी कहते हैं। विशेष ज्ञान के लिए तत्त्वकौमुदी (वाचस्पति मिश्र) या प्रवचनसूत्र भाष्य (विज्ञानभिक्षु) के संगत स्थल देखें।

(३. प्रकृति और विकृति से युक्त तत्त्व)

विकृतयश्च प्रकृतयश्च महदहंकारतन्मात्राणि। तदप्युक्तं 'महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त' (सां० का० ३) इति। अस्यार्थः—प्रकृतयश्च ता विकृतयश्चेति प्रकृतिविकृतयः सप्त महदादीनि तत्त्वानि। तत्रान्तःकरणादिपदवेदनीयं महत्तत्त्वमहंकारस्य प्रकृतिः। मूलप्रकृतेस्तु विकृतिः।

एवमहंकारतत्त्वमभिमानापरनामधेयं महतो विकृतिः। प्रकृतिश्च तदेवाहंकारतत्त्वं तामसं सत्पञ्चतन्मात्राणां सूक्ष्माभिधानाम्। तदेव सात्त्विकं सत्प्रकृतिरेकादशेन्द्रियाणां बुद्धीन्द्रियाणां चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनात्वगाख्यानां धर्मेन्द्रियाणां वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानामुभयात्मकस्य मनसश्च। रजसस्तूभयत्र क्रियोत्पादनद्वारेण कारणत्वमस्तीति न वैयर्थ्यम्।

महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द तन्मात्र)—ये ऐसे तत्त्व हैं जो विकृति (मूल प्रकृति के विकार) और प्रकृति (दूसरे तत्त्वों के उत्पादक) भी हैं। यह भी सांख्यकारिका के उसी प्रसंग में कहा है—'महत् आदि सात तत्त्व प्रकृति-विकृति दोनों हैं' (सां० का० ३)। इसका यह अर्थ है—जो प्रकृतियाँ भी हैं तथा विकृतियाँ भी, उन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं जो महत् आदि सात तत्त्व हैं। उनमें 'अन्तःकरण' आदि शब्दों के द्वारा बोधित होनेवाला महत्-तत्त्व है जो अहंकार नामक अगले तत्त्व की प्रकृति है किन्तु स्वयं वह मूल-प्रकृति की विकृति (Evolute) है।

इसी तरह अहंकार-तत्त्व, जिसका दूसरा नाम 'अभिमान' भी है, महत्तत्त्व की विकृति (कार्य) है, जब कि वही अहंकार-तत्त्व, तमोगुण से युक्त होने पर, 'सूक्ष्म' नामक पाँच तन्मात्रों की प्रकृति (कारण Evolvent) बन जाता है। वही, सत्त्वगुण के प्रकर्ष से, ग्यारह इन्द्रियों की अर्थात् आँख, कान, नाक, जीभ, चमड़ा—इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों की; वचन, पाणि, पाद, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)—इन कर्मेन्द्रियों की तथा उभयात्मक (ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय) मन की भी, प्रकृति है। रजोगुण तो दोनों अवस्थाओं में कार्य उत्पन्न करने के चलते अपने-आप कारण है, उसे व्यर्थ न समझें।

विशेष—प्रकृति के नाम से सांख्य-दर्शन में आठ तत्त्व विहित हैं। उनमें मूल-प्रकृति या प्रधान का वर्णन ऊपर हो चुका है। प्रस्तुत संदर्भ में बाकी तत्त्वों का वर्णन किया जा रहा है। दूसरा तत्त्व बुद्धि है जिसे महत् भी कहते हैं। इसमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य नाम के प्रकृष्ट गुण रहते हैं। महत् (बुद्धि-सामान्य) मूल-प्रकृति से ही उत्पन्न होता है। प्रधान की तरह यह भी त्रिगुणात्मक है। किन्तु सत्त्वांश की प्रधानता रहती है। फिर भी कभी-कभी रजस् और तमस् भी प्रकट होते हैं। प्रत्येक जीव में अपनी-अपनी उपाधियों से युक्त होकर यह बुद्धितत्त्व पृथक् पृथक् रहता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की बुद्धि में क्रमशः रजस् , सत्त्व और तमस् का आविर्भाव होता है। कुछ बुद्धितत्त्वों में रजस् और तमस् का आविर्भाव होने से सत्त्व तिरोहित हो जाता है, महत् होने पर भी अमहत् के समान अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य तथा अनैश्वर्य से युक्त होते हैं—इस प्रकार की उपाधियों से युक्त होने पर क्षुद्र तथा पुण्यहीन जीव धर्माचरण में प्रवृत्त न होकर अधर्म करते दिखलाई पड़ते हैं।

महत्तत्त्व को माधवाचार्य 'अन्तःकरण' भी कहते हैं। यह शब्द बड़ा भ्रामक है क्योंकि इससे बुद्धि, अहंकार और मन तीनों का बोध होता है। अन्तःकरण-रूपी वृक्ष का अंकुर महत्तत्त्व ही है। निश्चय करने वाला अन्तःकरण बुद्धि है, अभिमान करने वाला अन्तःकरण **अहंकार** है तथा संकल्प करने वाला अन्त.करण **मन** है। यही इन तीनों में अन्तर है।

सामान्य से विशेष की उत्पत्ति होती है। महत्तत्त्व सामान्य बुद्धि का बोधक है, इससे विशेष बुद्धि उत्पन्न होती है। विशेष बुद्धि में 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) का बोध सम्मिलित है 'इदम्' का बोध 'अहम्' के बोध पर निर्भर है इसलिए महत् से तृतीय तत्त्व अर्थात् अहंकार-तत्त्व की उत्पत्ति पहले होती है। तीनों गुण इसे भी बाँधते हैं, अतः सात्त्विक, राजस, और तामस के भेद से अहंकार के तीन भेद हैं। सात्त्विक को वैकारिक, राजस को तैजस तथा

तामस को भूतादि भी कहते हैं। जहां रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्वगुण उत्कट होता है वहाँ सात्त्विक अहंकार कहलाता है। वह तैजस-अंश से युक्त होकर प्रवृति दिखलानेवाली ग्यारह इन्द्रियों को उत्पन्न करता है। यही कारण है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति को सात्त्विक या तैजस दोनों नाम से पुकारते हैं। जहां सत्त्व और रजस् को दबाकर तमोगुण उत्कट होता है उसे तामस अहंकार कहते हैं। यह भी तैजस-अंश के साथ मिलकर प्रवृत्ति-धर्म वाले पाँच तन्मात्रों को उत्पन्न करता है। इसीलिए पाँच तन्मात्रों की उत्पत्ति को तामस या तैजस कहते हैं।

पाँच तन्मात्रों से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र का बोध होता है। शब्द आदि जो विशेष-रहित गुण हैं इन्हीं में रहने वाले पाँच सूक्ष्म भूतों (तत्त्वों Elements) को तन्मात्र (Subtle elements) कहते हैं। शब्द से केवल शब्द (विशेष से रहित शब्द) का बोध होने के कारण इसे शब्द–तन्मात्र (शब्द और केवल उतना ही) कहते हैं। इसी प्रकार अन्य तन्मात्र भी हैं। शब्द के विशेष भी होते हैं जैसे उदात्त, अनुदात्त, निषाद, ऋषभ आदि। स्पर्श के विशेषों (Kinds) में शीतत्व, उष्णत्व, मृदुत्व आदि हैं। रूप में नीलत्व, शुक्लत्व आदि विशेष हैं। रस में मधुरत्व, अम्लत्व आदि और गन्ध में सुरभित्व और असुरभित्व—ये विशेष हैं। सांख्यतत्त्वविवेचन में कहा भी है—

शब्दतन्मात्रमित्येतच्छब्द एवोपलभ्यते।
न तूदात्तनिषादादिभेदस्तस्योपलभ्यते॥

ये तन्मात्र क्रमशः आकाश (शब्दतन्मात्र), वायु (स्पर्शत०), अग्नि (रूपत०), जल (रसत०) और पृथिवी (गन्धत०) की उत्पत्ति करते हैं जो पञ्च महाभूत कहलाते हैं।

ये आठ प्रकृतियाँ, ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच महाभूत—सब मिलकर चौबीस तत्त्व हैं। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष है। वह जीवात्मा ही है, कोई सर्वज्ञ ईश्वर नहीं। यह पुरुष भी प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है नहीं तो सुख, दुःख, मोह, जन्म, मरण, मोक्ष की व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिए सांख्य-प्रवचन-सूत्र में (६।४५) कहा गया है—जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। वह जीवात्मा अनादि, सूक्ष्म, चेतन, सर्वगत, निर्गुण, कूटस्थ, नित्य, द्रष्टा, भोक्ता और क्षेत्रविद् (प्रकृति को जानने वाला) है। इतना होने पर भी सांख्य में ईश्वर नहीं माना जाता जिससे कभी-कभी इसे **निरीश्वर सांख्य** भी कहते हैं। इसकी तुलना में योग-दर्शन को **सेश्वर सांख्य** कहते हैं।

यह स्मरणीय है कि वैशेषिकों के द्वारा कहे गये सात पदार्थों का अन्तर्भाव इन्हीं पचीस तत्त्वों में होता है। पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और मन का तो इन्हीं शब्दों के द्वारा उल्लेख हुआ है। आत्मा पुरुष है। दिशा और काल आकाश के अन्तर्गत हैं। गुण, कर्म और सामान्य तो द्रव्य के ही अन्तर्गत हैं क्योंकि धर्म और धर्मी अभिन्न हैं। विशेष और समवाय का तो कोई उपयोग ही नहीं इसलिए उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता। अभाव एक प्रकार का भाव ही है। घट का प्रागभाव मिट्टी ही है, घटध्वंस का अर्थ है फूटे टुकड़े, घट का अत्यंताभाव केवल आधार को ही कहते हैं, पटादि घट का अन्योन्याभाव है।

तदुक्तमीश्वरकृष्णेन—

१. अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकरणगणस्तन्मात्रापञ्चकं चैव ॥
२. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥
३. बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥
४. उभयात्मकमत्र मनः संकल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ॥
(सां० का० २४-२७) इति।

विवृतं च तत्त्वकौमुद्यामाचार्यवाचस्पतिभिः।

जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने [सांख्यकारिका में] कहा है—'अभिमान की भावना* को अहंकार-तत्त्व कहते हैं। इससे दो प्रकार के ही कार्य (सृष्टि) उत्पन्न होते हैं, एक दो ग्यारह इन्द्रियों (करणों) का समुदाय और दूसरा पाँच तन्मात्रों (तन्मात्राओं) का ॥ २४ ॥ [सांख्यकारिका में पाठ है—एकादशकश्च गणः तन्मात्रपञ्चकश्चैव। वाचस्पति ने भी यही पाठ रखा है।] 'तदस्य परिमाणम्' के अर्थ में पाणिनिसूत्र (५।१।२२) अर्थात् 'संख्याया अतिशदन्तायाः

---

* वाचस्पति कहते हैं—'जो आलोचित और विचारित विषय है, उसका मैं अधिकारी हूँ', 'मैं यह काम करने में समर्थ हूँ', 'ये विषय मेरे ही लिए हैं', मेरे सिवा इनका कोई अधिकारी नहीं है', 'इसलिए मैं हूँ'—ये असाधारण व्यापार होने के कारण अभिमान या अहंकार हैं।

कन्' से कन् प्रत्यय होने से एकादशकः और पञ्चकः शब्द बने हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन—ये ग्यारह इन्द्रियाँ हैं जिन्हें प्रकाशक कहते हैं। शब्दतन्मात्र आदि पाँच तन्मात्रों का समुदाय जड़ है। अब पूछा जा सकता है कि अहंकार तो एक रूप का ही है ऐसे कारण से परस्पर विलक्षण कार्य अर्थात् जड़ और प्रकाशक, दोनों की उत्पत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर आगे की कारिका में दिया जाता है—]

'वैकृत (सात्त्विक, सत्त्वगुण के प्रकर्ष से युक्त) अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गण उत्पन्न होता है और भूतादि (=तामस) अहंकार से तन्मात्राएँ होती हैं जो तामस हैं। तैजस या राजस अहंकार से दोनों ही उत्पन्न होते हैं॥ २५॥ [प्रकाशक तथा लघु होने के कारण इन्द्रियाँ सात्त्विक हैं—सत्त्व में प्रकाश और लाघव रहते हैं। तन्मात्राएँ तमोगुण-प्रधान हैं क्योंकि उनमें गुरुत्व (स्थिरता) और आवरक-गुण है। अहंकार यद्यपि एक ही है किन्तु गुणों के उद्भव तथा अभिभव के कारण विभिन्न कार्य करता है। सत्त्वगुण और तमोगुण से सारे कार्य उत्पन्न होने पर भी रजोगुण की आवश्यकता इसलिए होती है कि ये दोनों गुण स्वयं निष्क्रिय हैं, समर्थ होने पर भी अपना-अपना कार्य तब तक नहीं कर सकते जब तक रजोगुण (जो चंचल है) इन्हें कार्य में प्रवृत्त न कर दे। अतः राजस अहंकार उक्त दोनों अहंकारों में क्रिया उत्पन्न करके सहायता करता है, वह व्यर्थ नहीं है। अब सात्त्विक गण का वर्णन करते हुए बाह्येन्द्रियों—ज्ञानेन्द्रियों—का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—]

'ज्ञान (बुद्धि) की इन्द्रियाँ पाँच हैं—आँख, कान, नाक, जीभ और चमड़ा। पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाक्, पाणि, पाद, पायु (गुदा) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) हैं॥ २६॥ [इन्द्र = आत्मा। उसका लिंग या ज्ञापक=इन्द्रिय। इन्द्रियों की प्रवृत्ति से ही आत्मा का अनुमान होता है। सात्त्विक अहंकार के कार्य में इन्द्रिय शब्द योगरूढ हो गया है, अतः अहंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती। वाचस्पति ने सांख्यकारिका के आधार पर सात्त्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति मानी है। उधर विज्ञानभिक्षु केवल ग्यारहवीं इन्द्रिय मन को ही सात्त्विक मानते हैं। उनके मत से दसों इन्द्रियाँ राजस हैं। अब मन का वर्णन करते हैं—]

'यहाँ मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है। यह संकल्प करने वाला है तथा अन्य इन्द्रियों के सजातीय होने के कारण इसे 'इन्द्रिय' कहते हैं। [मन से जब इन्द्रियों का संबन्ध होता है तब इन्द्रियाँ बाह्य पदार्थों का सामान्य ज्ञान ग्रहण करती हैं। उसके बाद मन उन्हें ठीक-ठीक रूप में पहचानता है कि यह

ऐसा है, वह ऐसा। संकल्प इसे ही कहते हैं। इसमें विशेष्य और विशेषण का संबन्ध देखकर विचार होता है। मन कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों, दोनों को सहायता करता है।]'

इन सबों का विवरण आचार्य वाचस्पति मिश्र ने सांख्य-तत्त्व-कौमुदी (२४-२७) में दिया है।

विशेष—यह ध्येय है कि माधवाचार्य अन्य दर्शनों में मूल-सूत्रों तथा उनकी व्याख्याओं की सहायता लेते हैं। उद्धरण देने में वे सबसे प्राचीन उपलब्ध तथा प्रामाणिक ग्रन्थ का आश्रय लेते हैं। किन्तु सांख्य-दर्शन के विवेचन में वे ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका की ही सहायता लेते हैं। इसका कारण यह है कि उनके अनुसार सांख्यकारिका ही प्राचीनतम प्रामाणिक पुस्तक थी। सांख्य-दर्शन के इतिहास में कपिल आदि ऋषि हैं अवश्य, किन्तु इनके नाम से जो सांख्य-सूत्र प्रचलित है वह प्रामाणिक नहीं। बाद के किसी विद्वान् ने उनके नाम से सांख्य-सूत्र और सांख्यसमाससूत्र (तत्त्वसमास) की रचना की थी। १५०० ई० से पूर्व इन दोनों में से किसी ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं मिलता।

ईश्वरकृष्ण से पहले के आचार्यों में कपिल, आसुरि और पंचशिख क्रमशः गुरु-शिष्य थे। परन्तु इनके ग्रन्थों का पता नहीं। कितने लोग तो इनकी ऐतिहासिकता में भी संदेह करते हैं। एक दूसरे आचार्य वार्षगण्य ने षष्टितन्त्र लिखा था जिसका उल्लेख सांख्यकारिका में मिलता है। सांख्य-दर्शन में सबसे अधिक प्रामाणिक ईश्वरकृष्ण थे जिन्होंने सांख्यकारिका लिखी। इसमें आर्या छन्द में ७२ कारिकाएँ हैं जो सांख्य के विषय में स्पष्ट और निश्चित सिद्धान्त देती हैं। वस्तुतः सांख्य-दर्शन कहने से **सांख्य-कारिका** का ही बोध होता है। इसके समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है फिर भी १००-२०० ई० के बीच में यह कभी-न-कभी लिखी गई थी। बहुत से आचार्यों ने इस पर वृत्ति, भाष्य और टीकाएँ लिखी थीं। इनमें वाचस्पति मिश्र (८५० ई०) की **तत्त्वकौमुदी** बहुत प्रसिद्ध है। इनके पाण्डित्य के अनुकूल ही यह टीका अत्यन्त प्रामाणिक भी है।

सोलहवीं शताब्दी से **सांख्यसूत्र** और **तत्त्वसमास** पर टीकायें मिलने लगती हैं। विज्ञान-भिक्षु (१५५० ई०) ने सूत्र पर भाष्य लिखकर स्वतन्त्र रूप से **सांख्यसारविवेक** नामक ग्रंथ लिखा। नागेशभट्ट ने भी सूत्रों पर वृत्ति लिखकर अपना हाथ अजमाया था (१७२५)। तत्त्वसमास के टीकाकारों में भावागणेश (१५७५ ई०) और विभानन्द मुख्य हैं। भावागणेश ने स्वतन्त्र रूप से भी **सांख्यसार, सांख्यपरिभाषा** और सांख्यतत्त्वप्रदीपिका—ये तीन ग्रन्थ लिखे थे।

(४. केवल विकृति के रूप में वर्तमान तत्त्व)

केवला विकृतिस्तु वियदादीनि पञ्च महाभूतानि, एकादशेन्द्रियाणि च। तदुक्तं—'षोडशकस्तु विकारः' (सां० का० ३) इति। षोडशसंख्यावच्छिन्नो गणः षोडशको विकार एव, न प्रकृतिरित्यर्थः। यद्यपि पृथिव्यादयो गोघटादीनां प्रकृतिस्तथापि न ते पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरमिति न प्रकृतिः। तत्त्वान्तरोपादानत्वं चेह प्रकृतित्वमभिमतम्। गोघटादीनां स्थूलत्वेन्द्रियग्राह्यत्वयोः समानत्वेन तत्त्वान्तरत्वाभावः।

केवल विकृति के रूप में विद्यमान तत्त्वों में आकाश (वियत्) आदि पाँच महाभूत तथा ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। जैसा कि कहा भी है—'सोलह तत्त्वों का समुदाय केवल कार्य (विकार) ही है' (सां० का० ३) 'षोडशक' का अर्थ है सोलह संख्या से परिमित गण (समुदाय), जो केवल कार्य ही है, प्रकृति अर्थात् कारण नहीं। यद्यपि पृथिवी आदि तत्त्व गौ, घट, वृक्ष आदि के कारण ही हैं किन्तु ये पदार्थ पृथिवी आदि से तत्त्व में पृथक् नहीं हैं—यही कारण है कि पृथिवी आदि को कारण (प्रकृति) नहीं मानते। अपने से भिन्न तत्त्व का उपादान कारण बननेवाली वस्तु ही यहाँ पर 'प्रकृति' शब्द से अभिप्रेत है। गौ, घट आदि पदार्थ पृथिवी आदि से पृथक् नहीं हैं, [यह बात इसी से सिद्ध हो जाती है कि गौ, घट आदि] उसी प्रकार स्थूल और इन्द्रियग्राह्य हैं, जिस प्रकार पृथिवी।

तत्र शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रेभ्यः पूर्वपूर्वसूक्ष्मभूतसहितेभ्यः पञ्च महाभूतानि वियदादीनि क्रमेणैकद्वित्रिचतुष्पञ्चगुणानि जायन्ते। इन्द्रियसृष्टिस्तु प्रागेवोक्ता। तदुक्तम्—

५. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥
(सां० का० २२) इति।

उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का प्रत्येक तन्मात्र अपने पूर्व के तन्मात्र (सूक्ष्म भूत) से युक्त होकर आकाशादि पाँच महाभूतों को उत्पन्न करता है—जिनमें क्रमशः एक, दो, तीन, चार और पाँच गुण रहते हैं। [शब्द-

तन्मात्र से शब्द (एक) गुण वाला **आकाश** उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र से युक्त स्पर्शतन्मात्र से शब्द-स्पर्श (दो) गुणों वाली **वायु** उत्पन्न होती है। शब्द और स्पर्शतन्मात्रों से युक्त रूपतन्मात्र से शब्द-स्पर्श-रूप (तीन) गुणों वाला **तेजस्** उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श और रूपतन्मात्रों से युक्त रसतन्मात्र से **जल** उत्पन्न होता है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार गुण रहते हैं। अन्त में शब्द, स्पर्श, रूप और रसतन्मात्रों से युक्त गन्धतन्मात्र से **पृथिवी** उत्पन्न होती है जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच गुण रहते हैं। (वाचस्पतिमिश्र)]

इन्द्रियों की सृष्टि तो पहले ही कह दी गई है। [इसके सार-रूप में सांख्यकारिका में] कहा गया है—'प्रकृति से महत्-तत्त्व, उससे अहंकार, उससे सोलह तत्त्वों का समुदाय (पाँच तन्मात्र और ग्यारह इन्द्रियाँ), इस सोलह [के अन्दर] के पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूत [उत्पन्न होते हैं]' (सां० का० २२)।

(५. प्रकृति-विकृति से रहित पुरुष-तत्त्व)

अनुभयात्मकः पुरुषः। तदुक्तं—'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (सां० का० ३) इति। पुरुषस्तु कूटस्थनित्योऽपरिणामी न कस्यचित्प्रकृतिर्नापि विकृतिः कस्यचिदित्यर्थः।

पुरुष दोनों में कुछ भी नहीं है। कहा है—'पुरुष न तो प्रकृति (कारण) ही है और न विकृति (कार्य) ही' (सां० का० ३)। पुरुष कूटस्थ (अचल, निर्विकार), नित्य तथा परिणाम (विकास) से रहित है—इसीलिए न तो वह किसी का कारण है, न किसी का कार्य।

विशेष—सभी मनुष्यों में जो चेतन-तत्त्व है वही पुरुष है। यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, कुछ कार्य नहीं कर सकता है। प्रकृति के साथ संपृक्त होने के कारण यह बन्धन में पड़ा रहता है, जिस समय प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाता है, उसी समय मोक्ष की प्राप्ति होती है। सांख्य में पुरुषों की बहुलता सिद्ध की जाती है। यदि बहुलता नहीं होती तो एक पुरुष के सुखी, दुःखी, मूढ, बद्ध या मुक्त हो जाने से सभी पुरुष वैसे ही हो जाते। एक पुरुष के मरने पर सभी मरते, जन्म लेने पर सबों का जन्म होता आदि। पुरुषों को मुक्त करने के ही लिए प्रकृति संसार के रंगमंच पर नृत्य करती है। प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध का वर्णन आगे करेंगे। अभी प्रमाणों का वर्णन करते हैं।

(६. सांख्य-प्रमाण-मीमांसा)

एतत्पञ्चविंशतितत्त्वसाधकत्वेन प्रमाणत्रयमभिमतम् । तदप्युक्तम्—

६. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ॥
(सां० का० ४) इति ।

इन पचीस तत्त्वों को सिद्ध करने वाले तीन प्रमाण सांख्य-दर्शन में माने जाते हैं । वे भी इस रूप में कहे गये हैं—'प्रत्यक्ष (दृष्ट), अनुमान और शब्द प्रमाण में ही सभी प्रमाणों के अन्तर्भूत हो जाने से तीन प्रमाण ही मान्य हैं । चूँकि प्रमाण से ही प्रमेय की सिद्धि होती है [अतः पहले प्रमाणों का ही वर्णन करके बाद में प्रमेयों का प्रतिपादन किया जायगा ।]' (सां० का० ४) ।

विशेष—सांख्य-दर्शन में तीन प्रमाणों को मान्यता मिलती है । अन्य प्रमाणों को (उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि) को इन्हीं तीनों में अन्तर्भूत कर लिया जाता है । ईश्वरकृष्ण ने पाँचवीं* कारिका में इन तीनों प्रमाणों के लक्षण दिये हैं जिनकी व्याख्या वाचस्पति मिश्र ने विस्तृत रूप से की है ।

(१) **प्रत्यक्ष (दृष्ट)**—दृष्ट का लक्षण देने में 'प्रतिविषयाध्यवसाय' शब्द का प्रयोग किया गया है । पृथिवी आदि और सुखादि विषय हैं क्योंकि ये विषयी (बुद्धि) को बाँध लेते हैं (वि + √सि), अपने आकार में रँगकर उस बुद्धि को भी तद्रूप बना देते हैं । हमारे ज्ञान का विषय न बननेवाले सूक्ष्म तन्मात्र आदि भी योगियों और ज्ञानियों के विषय बन जाते हैं । जो प्रत्येक विषय में प्रवृत्त होता हो उसे 'प्रतिविषय' कहते हैं अर्थात् विषय से संबद्ध इन्द्रिय ही प्रतिविषय है । इस (इन्द्रिय) पर आश्रित जो अध्यवसाय (बुद्धिव्यापार या ज्ञान) है उसे ही दृष्ट कहते हैं । दूसरे शब्दों में, विषयों के साथ संबद्ध इन्द्रिय के द्वारा किये गये निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं ।

(२) **अनुमान**—प्रत्यक्ष के बाद अनुमान आता है क्योंकि यह प्रत्यक्ष पर आश्रित है । लिंग (व्याप्य) और लिंगी (व्यापक) के ज्ञान से उत्पन्न होनेवाला प्रमाण अनुमान है । शंकित तथा निश्चित दोनों प्रकार की उपाधियों‡ का

---

* प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं तु ॥ (सां० का० ५) ।

‡ देखिए—सर्वदर्शनसंग्रहः, पृ० १९ (उपाधि), तथा पृ० १२ (उपाधि-भेद) ।

निराकरण हो जाने पर वस्तु के स्वभाव से ही जिसका साहचर्य सम्बन्ध हो वह व्याप्य होता है। जिसके साथ वह सम्बन्ध हो उसे व्यापक कहते हैं। घूम व्याप्य है, अग्नि व्यापक। इस ज्ञान के बाद जो ज्ञान होगा अनुमान कहलायगा। घूम (लिंग) पर्वत (पक्ष) में उसके धर्म के रूप में विद्यमान है—यह पक्षधर्मता का ज्ञान है। तो, व्याप्य और व्यापक का व्याप्तिज्ञान तथा लिंग (व्याप्य) के पक्षधर्मता-ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान अनुमान-प्रमाण है। न्याय-दर्शन के अनुमान-भेदों को यहाँ भी स्वीकृत किया गया है जो तीन हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट। किन्तु वाचस्पति ने पहले अनुमान के दो भेद किये हैं—वीत (अन्वयविधि से व्याप्ति के द्वारा प्रवृत्त) और अवीत (व्यतिरेकव्याप्ति से प्रवृत्त) अवीत को शेषवत् कहते हैं। किसी वस्तु की जहाँ-जहाँ संभावना हो, उन सभी स्थानों में वस्तु का निषेध करके अंत में और कोई उपाय न देखकर बचे हुए स्थान में ही वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना **शेषवत्** है। वीत के दो भेद हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। जब किसी वस्तु का विशिष्ट रूप पहले प्रत्यक्ष कर लिया गया हो और उसके आधार पर उसके सामान्य रूप से युक्त विशेष का ज्ञान किया जाय तो उसे **पूर्ववत्** कहते हैं। रसोई-घर में विशिष्ट रूप में वह्नि देखकर घूम के द्वारा वह्नित्व से अवच्छिन्न (व्याप्त, युक्त) विशेष रूप अर्थात् पर्वतीय वह्नि का ज्ञान करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रकार 'वह्नित्वसामान्य विशेष' का अनुमान हुआ। **सामान्यतोदृष्ट** अनुमान का विषय ऐसी सामान्य वस्तु है जिसका विशेष रूप पहले देखा नहीं गया हो। जैसे—इन्द्रिय-विषयक अनुमान। रूपादि का ज्ञान क्रिया है, इस (लिंग) से इन्द्रियों का अनुमान होता है क्योंकि क्रिया किसी साधन (करण = साधन, इन्द्रिय) से ही उत्पन्न होती है। (विशेष विवरण के लिए त० कौ० देखें)।

(३) **आप्तवचन** (शब्द)—अनुमान के बाद आप्तवचन या शब्द प्रमाण इसलिए रखते हैं कि अनुमान के द्वारा ही बालक को 'शक्ति' अर्थात् शब्दार्थ-संबन्ध का ज्ञान होता है और शब्दार्थ के संबन्ध का ज्ञान होने पर ही शाब्दबोध (शब्द के अर्थ का साक्षात्कार) होता है। अतः अनुमान शब्द-प्रमाण का परम्परया (परोक्ष रूप से) कारण है। आप्तवचन का अर्थ है आप्त (प्रकृष्ट या उचित) श्रुति अर्थात् वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थज्ञान। यह वाक्यार्थज्ञान जो स्वतंत्र रूप से प्रमाण होता है, अपौरुषेय वेदवाक्यों से* उत्पन्न होने से,

* सांख्य और मीमांसा दर्शनों में ईश्वर को स्वीकार नहीं करते। अतः किसी विशेष पुरुष (ईश्वर) के बनाये न रहने से वेद को अपौरुषेय मानते हैं। सांख्यसूत्र (५।४६) में कहा है—न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। (बालरामोदासीन की विद्वत्तोषिणी टीका—त० कौ० पर।)

भ्रम, प्रमादादि पुरुषदोषों से रहित होने के कारण युक्त है। वेद के वाक्य तो प्रमाण हैं ही, वेदमूलक स्मृति, इतिहास, पुराण के वाक्यों से उत्पन्न ज्ञान भी युक्त होता है। 'आप्त' शब्द से युक्त या उचित श्रुतियों (आगमों) का ही बोध होता है। नहीं तो जैन, बौद्ध आदि के विचार जो आगम जैसे लगते हैं वे भी प्रमाण ही हो जायँगे।

वाचस्पति ने इसके बाद उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव तथा ऐतिह्य प्रमाणों को (जो विभिन्न दर्शनों में स्वीकृत हैं) इन्हीं के अन्दर सिद्ध किया है। कोई प्रत्यक्ष में, कोई अनुमान में और कोई आगम में अन्तर्भूत हो जाते हैं। स्मरणीय है कि छहों दर्शनों पर टीका करने वाले आचार्य बिल्कुल तटस्थ होकर इनकी विवेचना करते हैं। इसके बाद की कारिका में (छठी कारिका में) बतलाया गया है कि सामान्यतोदृष्ट अनुमान से अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि होती है। किन्तु जो पदार्थ परोक्ष हैं कि इससे भी सिद्ध न हो सकें तब उनकी सिद्धि आगम-प्रमाण से होती है। बात यह है कि बहुत दूर होने या समीप होने से, इन्द्रियों के घात या मन की अस्थिरता होने से, सूक्ष्मता के कारण या बीच में रुकावट पड़ जाने से, किसी वस्तु से अभिभूत (दब) हो जाने से या समान वस्तु में मिल जाने से कोई पदार्थ दिखलाई नहीं पड़ता (कारिका ७)। इस आधार पर यह नहीं सोचें कि पदार्थ है ही नहीं—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्।

(७. कार्य-कारण-सम्बन्ध पर विभिन्न मत)

इह कार्यकारणभावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायत इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयः सतोऽसज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति।

यहाँ पर कार्य और कारण के परस्पर सम्बन्ध को लेकर चार प्रकार के विभिन्न मतवाद हैं। बौद्ध (शून्यवादी) कहते हैं कि असत् (Non-existent) से सत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। नैयायिक (वैशेषिक भी) आदि कहते हैं कि सत् पदार्थ (कारण) से असत् कार्य उत्पन्न होता है। वेदान्तियों (अद्वैत) की मान्यता है कि सत् कारण से विवर्त (कल्पित) कार्य उत्पन्न होता है और सारे कार्यों की वास्तविक सत्ता नही रहती। लेकिन सांख्यवाले कहते हैं कि सत् कारण से सत् कार्य ही उत्पन्न होता है।

विशेष—प्रमाणों के द्वारा उक्त पचीस तत्त्वों की सिद्धि करनी पड़ती है। उन तत्त्वों में प्रथम तत्त्व जो प्रधान या प्रकृति है उसकी सिद्धि के लिए अनुमान ही एक साधन है। उस विषय में किये गये अनुमान का उपजीव्य सत्कार्यवाद का सांख्योक्त सिद्धान्त ही हो सकता है। प्रकृति तत्त्व के भीतर वे सारे विकार निहित हैं जिनकी उत्पत्ति प्रकृति से होती है, चाहे वह उत्पत्ति सीधे हो या परम्परा से हो। इस विषय में मतभेद प्रदर्शित करते हैं जिनके खण्डन के बाद अपने सत्कार्यवाद का पोषण करेंगे।

(१) बौद्धों का पक्ष है कि कारणवस्तु से कार्यवस्तु तभी उत्पन्न होती है जब कारणवस्तु असत् अर्थात् विनष्ट हो जाय। जब तक पूर्व वस्तु सत् या विद्यमान है तब तक कोई चीज उससे उत्पन्न ही नहीं हो सकती। बीज का नाश होने पर ही अंकुर उत्पन्न होता है, मिट्टी का पिंड मिट जाने पर ही घट उत्पन्न होता है। बौद्ध लोग सभी भावात्मक (Positive) वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं। कार्य के क्षण में कारण तथा कारण-क्षण में कार्य नहीं रहता। पूर्वक्षणिक वस्तु के विनाश के बाद ही उत्तरक्षणिक वस्तु आती है—अतः विनष्ट (असत्) कारण ही सत् (विद्यमान) कार्य को उत्पन्न करता है। सत् का यहाँ अर्थ है क्षणभर खड़ा रहना, तीनों कालों में अबाधित होना नहीं।

(२) नैयायिक और वैशेषिक असत्कार्यवाद का सिद्धान्त मानते हैं। इनके अनुसार परमाणु आदि (कारण) द्व्यणुकादि कार्य पहले से विद्यमान नहीं (असत्) रहते हैं, उनसे ये सत् (विद्यमान) द्व्यणुकादि-कार्य बिल्कुल नवीन रूप में उत्पन्न होते हैं। मिट्टी में घट असत् है नहीं तो दोनों का एक ही नाम होता या फिर दोनों पर्याय माने जाते। दोनों को हम अलग-अलग देखते हैं। बौद्धों के अनुसार जहाँ कारण-वस्तु ही अविद्यमान (विनष्ट) होती है तब कार्योत्पत्ति होती है, न्याय के अनुसार कारण-वस्तु विद्यमान ही रहती है। हाँ, उसमें कार्य नवीन रहता है।

(३) अद्वैत-वेदान्त के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत् (विद्यमान) है, जगत् के अन्य सभी रूप अज्ञानवश उसमें उसी प्रकार कल्पित या आरोपित हैं जैसे सीपी में चाँदी या रस्सी में साँप। जिस प्रकार सीपी का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें आरोपित चाँदी की पूर्वप्रतीति मिथ्या या भ्रमपूर्ण लगती है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के द्वारा माया का बन्धन (आवरण) हट जाने पर पारमार्थिक तत्त्व—ब्रह्म—में ज्ञानावस्था के पूर्व प्रतीत होनेवाला समस्त जगत् भ्रान्त लगता है, असत् (वस्तुतः मिथ्या, पारमार्थिक दृष्टि से असत्) लगता है। फलतः कारण (ब्रह्म) सत् है किन्तु कार्य (जगत्) मूलकारण ब्रह्म का विवर्त

(मिथ्यात्मक रूपान्तर Illusory emanation) है, परिणाम (वास्तविक रूपान्तर) नहीं। विवर्त होने के कारण इसकी (कार्य की) पारमार्थिक सत्ता नहीं, आभासिक या व्यावहारिक सत्ता ही है। न्याय में वस्तु का पारमार्थिक रूपान्तर मानते हैं, सांख्य के साथ भी यही बात है परन्तु वेदान्त में वस्तु का आभासिक रूपान्तर या विवर्त माना जाता है।

(४) सांख्य के अनुसार सत् कारण से ही कार्य उत्पन्न होता है और वह कार्य भी सत् ही रहता है—कारण-व्यापार के पूर्व अव्यक्त रूप में विद्यमान कार्य ही कारण-व्यापार के पश्चात् व्यक्त रूप में उत्पन्न होता है। दूध से उत्पन्न होनेवाला दधि कारणव्यापार के पूर्व भी दूध में अव्यक्त रूप में विद्यमान है। प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले महत् अहंकार आदि तत्त्व उस (प्रकृति) में अव्यक्त रूप में रहते हैं। इस मत को सत्कार्यवाद कहते हैं। इसमें कारण से कार्य की उत्पत्ति का यही अर्थ है कि कोई अव्यक्त पदार्थ व्यक्त हो जाता है। स्मरणीय है कि सांख्य और न्याय के अनुसार कार्य एक तथ्य (Real) है जब कि वेदान्त में कार्य मिथ्या है, विवर्त है।

अब सांख्य के अतिरिक्त अन्य मतों के खण्डन का उपक्रम करते हुए सत्कार्यवाद की सिद्धि की जायगी और उसके लिए विभिन्न तर्क दिये जायँगे।

(७ क. कार्य-कारण-भाव के मतों का खंडन)

तत्रासतः सज्जायत इति न प्रामाणिकः पक्षः। असतो निरुपाख्यस्य शशविषाणवत्कारणत्वानुपपत्तेः। तुच्छातुच्छयोस्तादात्म्यानुपपत्तिश्च।

उन मतों में 'असत् से सत् उत्पन्न होता है' यह पक्ष प्रामाणिक नहीं है। असत् का वर्णन नहीं हो सकता, यह खरहे की सींग की तरह [सत्ताहीन] है उसे कारण ही नहीं बताया जा सकता। दूसरे, तुच्छ (स्वरूपहीन) और अतुच्छ (स्वरूपयुक्त) पदार्थों में तादात्म्य-संबन्ध भी तो नहीं होता है। [तात्पर्य यह है कि एक तो असत् पदार्थ कारण नहीं हो सकता क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं, वह कार्योत्पादन क्या करेगा? दूसरे, सत् और असत् का संबन्ध होना असंभव है क्योंकि असत् पदार्थ है स्वरूपहीन और सत् पदार्थ का कुछ स्वरूप होता है। पूर्वक्षण में होने वाला घटाभाव ही उत्तर क्षण में होने वाले घट का उपादान कारण है—ऐसा बौद्ध लोग कहते हैं। अभाव या असत् स्वरूपहीन होने के कारण अपने परवर्ती भाव या सत् के साथ तादात्म्य संबन्ध नहीं रख सकता।

जब तादात्म्य ही नहीं रहेगा तो उपादान और उपादेय का संबन्ध नहीं हो सकता। इसलिए बौद्धों का सिद्धान्त अमान्य है।]

नापि सतोऽसज्जायते। कारकव्यापारात्प्रागसतः शशविषाणवत्सत्तासंबन्धलक्षणोत्पत्त्यनुपपत्तेः। न हि नीलं निपुणतमेनापि पीतं कर्तुं पार्यते। ननु सत्त्वासत्त्वे 'घटस्य धर्माविति चेत्—तदचारु। असति धर्मिणि तद्धर्म इति व्यपदेशानुपपत्त्या धर्मिणः सत्त्वापत्तेः।

सत् से असत् की उत्पत्ति का [न्याय-सिद्धान्त] भी प्रामाणिक नहीं ही है। कार्य को उत्पन्न करनेवाले पदार्थ की क्रिया (कारक-व्यापार) के पहले जिसका अस्तित्व ही नहीं है उसकी उत्पत्ति खरहे की सींग की तरह ही असंभव है क्योंकि उत्पत्ति का अर्थ है सत्ता से सम्बन्ध रहना। [दो सत्तायुक्त पदार्थों का ही संबंध हो सकता है और सत्ता के साथ सम्बन्ध होने पर ही उत्पत्ति होती है। यह आज तक सुना नहीं गया कि खरहे की सींग या वन्ध्यापुत्र का सम्बन्ध किसी सत्तायुक्त पदार्थ के साथ हुआ है—असत् और सत् का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। पहले से असत् घटादि-कार्य का सम्बन्ध सत्ता से नहीं हो सकता इसलिए घटादि-कार्य की उत्पत्ति (= सत्ता से सबन्ध) नहीं मानी जा सकती।] सबसे निपुण व्यक्ति भी नीले को पीला नहीं कर सकते। [नील में पीत की सत्ता नहीं है—पीत वहाँ असत् है जब कि कार्यरूप में सत् है। तो जब नीले में पीला नहीं है तो नीला रंग कभी पीला नहीं होगा—असत् पीत कभी भी सत् पीत नहीं बन सकता। पहले से असत् घट कुम्भकार के व्यापार से भी सत् नहीं किया जा सकता। असत् और सत् में परस्पर विरोध है—वे कार्य-कारण भाव नहीं रख सकते।]

अब यदि ये (नैयायिक) कहें कि सत्ता और असत्ता, घट के ये दो धर्म हैं [अर्थात् जैसे वलयत्व धर्म से विभूषित स्वर्ण स्वर्णकार के व्यापार (क्रिया) से कुण्डलत्व-धर्म से युक्त हो जाता है वैसे ही यहाँ असत्त्व-धर्म से विशिष्ट घट कुम्भकारादि के व्यापार से सत्त्व-धर्म से युक्त हो जायगा], तो हम यह कहेंगे कि यह कहना उन्हें शोभा नहीं देता। धर्मी (घट) के नहीं रहने पर हम यह नहीं कह सकते कि यह (असत्) उस (घट) का धर्म है। नहीं तो धर्मी (घट) की सत्ता माननी पड़ेगी (= घट की नित्यता स्वीकार करनी पड़ेगी)। [आशय यह है कि यदि असत्त्व घट का धर्म माना जाय तो धर्म (असत्त्व) धर्मी (घट) के बिना नहीं रह सकता—यह भी मानना पड़ेगा। तो असत्त्व-धर्म के समय

धर्मी (घट) की सत्ता माननी पड़ेगी, अतः घट की सत्ता रहेगी ही। यही नहीं, इसके फल स्वरूप घट नित्य हो जायगा क्योंकि जब असत् काल में भी घट है तब तो वह नित्य ही न है ?]

विशेष—यहाँ पर दो ही मतों का खंडन किया गया है, विवर्तवाद का खंडन बाद में करेंगे। अब अपने सत्कार्यवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं।

(८. सत्कार्यवाद की सिद्धि)

तस्मात्कारकव्यापारात्प्रागपि कार्यं सदेव। सतश्चाभिव्यक्तिरुपपद्यते। यथा पीडनेन तिलेषु तैलस्य, दोहनेन सौरभेयीषु पयसः। असतः कारणे किमपि निदर्शनं न दृश्यते। किं च कार्येण कारणं सम्बद्धं तज्जनकमसम्बद्धं वा। प्रथमे कार्यस्य सत्त्वमायातम्। सतोरेव सम्बन्ध इति नियमात्। चरमे सर्वं कार्यजातं सर्वस्माज्जायेत। असम्बद्धत्वाविशेषात्।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि कारक (कर्ता, हेतु, कारण) के व्यापार के पूर्व भी कार्य की सत्ता रहती ही है। [तब कुम्भकार आदि की आवश्यकता क्यों ?] हाँ, इतना अवश्य है कि पहले से विद्यमान (सत्) कार्य की केवल अभिव्यक्ति होती है [जिसमें निमित्त कारण की अपेक्षा रहती है।] उदाहरण के लिए जैसे—पीसने (पेरने) पर तिलों से तेल की या दुहने पर गायों से दूध की [अभिव्यक्ति होती है। तिलों में तेल या गायों में दूध पहले से है पर अभिव्यक्ति के लिए पेरने के व्यापार की या दोहनव्यापार की अपेक्षा है। केवल अभिव्यंजक होने के कारण भी ये व्यापार कारण हुए।] असत् वस्तु (जैसे न्याय-दृष्टि से कारणावस्था में घट) की उत्पत्ति (दण्डादि) सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता। [दृष्टान्त वैसा ही हो सकता है जो दोनों वादियों को स्वीकार हो। नैयायिक यदि घट का उदाहरण दें कि असत् घट का कारण दण्डादि है तो यह सम्भव नहीं। उधर सांख्य वाले घट को पहले से कारण-रूप में भी वर्तमान ही स्वीकार करते हैं आजतक कभी किसी ने असत् को उत्पन्न होते या अभिव्यक्त होते भी नहीं देखा कि दृष्टान्त दे सकें।]

इसके अतिरिक्त कारण-वस्तु कार्य-वस्तु को उससे या तो संबद्ध होकर उत्पन्न करती है या फिर असंबद्ध ही होकर (तीसरा विकल्प सम्भव नहीं)। संबद्ध होकर उत्पन्न करने से तो कार्य की सत्ता (कारण में कार्य का रहना)

ही सिद्ध हो जाती है क्योंकि दो सत् वस्तुओं का ही सम्बन्ध होने का नियम है। यदि असम्बद्ध होकर उत्पन्न करती है तो कोई भी कार्य किसी भी कारण से उत्पन्न होने लगे क्योंकि असंबद्धता तो सबों में बराबर ही रहेगी। [घट से मिट्टी को यदि असम्बन्ध है तो पट से भी तो उसे असम्बन्ध ही है। तो, मिट्टी घट और पट दोनों को उत्पन्न कर सकेगी। अतः असंबद्ध होकर कारण कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। असंबद्ध असंबद्ध से नहीं उत्पन्न होता, संबद्ध पदार्थ ही संबद्ध को उत्पन्न कर सकता है—तिल से ही तेल होगा, पाषाण से नहीं।]

तदाख्यायि सांख्याचार्यैः—

७. असत्त्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति।

इसे सांख्य के आचार्यों ने कहा है—[उत्पत्ति के पूर्व कार्य को] असत् मानने पर* सत्त्व के संग में रहने वाले [सत्त्व धर्म से युक्त] कारणों (मिट्टी आदि) से इसका संबन्ध नहीं हो सकता। [मिट्टी से घड़ा बनता है; मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य। यहाँ कारण वस्तु विद्यमान (सत्) है, किन्तु कार्यवस्तु अविद्यमान (असत्) है क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व कार्य रहता ही नहीं, यह न्यायमत है। अतः सत् (कारण) और असत् कार्य का संबन्ध होना कभी संभव नहीं।] अब यदि [कारण से] असंबद्ध (कार्य) की उत्पत्ति मानी जाय तो ['अमुक कारण से अमुक कार्य उत्पन्न होता है'—इस तरह की] व्यवस्था नहीं रहेगी। [मिट्टी से कपड़ा, जल से घड़ा, ईख से नमक आदि पैदा होने लगेंगे। किसी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न होने लगेगा।]

अथैवमुच्येत—'असंबद्धमपि तत्तदेव जनयति यत्र यच्छक्तम्। शक्तिश्च कार्यदर्शनोन्नेयेति।' तन्न संगच्छते। तिलेषु तैलजननशक्तिरित्यत्र तैलस्यासत्त्वे संबद्धत्वासंबद्धत्वविकल्पेन तच्छक्तिरिति निरूपणायोगात्। कार्यकारणयोरभेदाच्च कारणात्पृथक्कार्यस्य सत्त्वं न भवति।

यदि ऐसा उत्तर दिया जाय कि असंबद्ध होने पर भी कोई (कारण) उसी कार्य को उत्पन्न करता है जो कारण जिसे उत्पन्न करने में समर्थ (शक्त Capa-

* तत्त्वकौमुदी में पाठ 'असत्त्वे नास्ति' है। अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता। 'असत्त्वे' से साध्यता प्रकट होती है, 'असत्त्वात्' से सिद्धता।

ble) है [जैसे तन्तु पट को उत्पन्न करने में समर्थ है—मिट्टी घट को ।] किसी पदार्थ की शक्ति का अनुमान उसके कार्य को देखकर करना चाहिए । [मिट्टी की शक्ति का अनुमान घट देखकर होता है कि वह घटोत्पादन के लिए समर्थ है ।]

लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं हो सकती । 'तिलों में तेल उत्पन्न करने की शक्ति है' इस प्रकार [असत्कार्यवाद के अनुसार तिलों में] तेल की सत्ता न मानने पर यह निश्चित नहीं कर सकते कि [तेल और उसे उत्पन्न करने की शक्ति के परस्पर] संबद्ध होने या असंबद्ध होने से भी उसमें वह शक्ति है ही । [अभिप्राय यह है—सांख्य दार्शनिक नैयायिकों से कहते हैं कि आपकी बात मान ली, कार्य देखकर हम किसी पदार्थ की शक्ति का अनुमान कर लेंगे, तिल में तेल उत्पन्न करने की शक्ति है । परन्तु यह बतलाइये कि पहले से विद्यमान शक्ति जो तिल में है वह कार्योत्पत्ति के पूर्व तेल से सम्बद्ध है या नहीं ? यदि है तो तेल की सत्ता उत्पत्ति के पूर्व भी है, सत्कार्यवाद की ही सिद्धि होगी । यदि सम्बद्ध नहीं है तो कैसे निरूपण करेंगे कि यह तेल को उत्पन्न करनेवाली शक्ति है ? दोनों दशाओं में गये ।] दूसरे, कार्य और कारण में भेद नहीं होता, इसलिए कारण से अलग कार्य की सत्ता नहीं होती । [कार्य-कारण में अभेद होने के कारण सत्ता एक ही रहती है, दो सत्ताएँ नहीं रहतीं । अतः कार्योत्पत्ति के पूर्व यदि कारण की सत्ता है तो कार्य की सत्ता भी अवश्य ही रहेगी ।]

पटस्तन्तुभ्यो न भिद्यते । तद्धर्मत्वात् । न यदेवं, न तदेवं यथा गोरश्वः । तद्धर्मश्च पटः । तस्मान्नार्थान्तरम् । तर्हि प्रत्येकं त एव प्रावरणकार्यं कुर्युरिति चेन्न । संस्थानभेदेनाविर्भूतपटभावानां प्रावरणार्थक्रियाकारित्वोपपत्तेः । यथा हि कूर्मस्याङ्गानि कूर्मशरीरे निविशमानानि तिरोभवन्ति, निःसरन्ति चाविर्भवन्ति; एवं कारणस्य तन्त्वादेः पटादयो विशेषा निःसरन्त आविर्भवन्त उत्पद्यन्त इत्युच्यन्ते । निविशमानास्तिरोभवन्तो विनश्यन्तीत्युच्यन्ते ।

[कार्य का कारण से अभेद सिद्ध करने के लिए ये प्रमाण हैं—] पट तन्तुओं से भिन्न नहीं है क्योंकि वह तन्तुओं की अवस्था-विशेष (धर्म) है । जो ऐसा (किसी वस्तु से अभिन्न) नहीं है, वह उसका धर्म भी नहीं है जैसे गौ से अश्व । [गौ से अश्व अभिन्न नहीं है अर्थात् भिन्न है, इसलिए गौ की अवस्था-विशेष अश्व नहीं है । वह उससे पृथक् है ।] यहाँ पर पट तन्तुओं का धर्म (अवस्था-विशेष) है अतः भिन्न नहीं है ।

[अब इसमें शंका उठती है कि] तब तो अर्थात् तन्तु और पट में अभेद मान लेने पर प्रत्येक तन्तु ही आवरण का कार्य करता (जो काम कपड़े का है वही काम सूतों से भी चलता)। यह शंका ठीक नहीं क्योंकि उन सूतों के संस्थान (विशेष रूप से सजाये गये रूप) में अन्तर रहने के कारण [जब उन सूतों से] पट-रूप का आविर्भाव (अभिव्यक्ति Manifestation) हो जाता है तभी ये आच्छादन-रूपी कार्य के सम्पादन में समर्थ होते हैं। [पट और तन्तु में संस्थान या सजावट का अन्तर है। जब ये तन्तु विशेष रूप से सजा दिये जाते हैं तभी पट का आविर्भाव होता है जो आच्छादन के काम में आता है।] जैसे कछुए के अंग उसके शरीर में प्रवेश करने पर तिरोहित कहलाते हैं और निकलने पर आविर्भूत कहलाते हैं वैसे ही सूत आदि कारणों से वस्त्रादि विशेष रूप (कार्य) निकलने या आविर्भूत होने पर 'उत्पन्न हो रहे हैं' ऐसा कहलाते हैं; प्रवेश करने पर या तिरोहित हो जाने पर 'नष्ट हो रहे हैं' ऐसा कहते हैं।*

न पुनरसतामुत्पत्तिः सतां वा विनाशः। यथोक्तं भगवद्गीतायाम्—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

(गी० २।१६) इति।

ततश्च कार्यानुमानात्तत्प्रधानसिद्धिः। तदुक्तम्—

८. असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥

(सां० का० ९) इति।

इसके अतिरिक्त, असत् वस्तु की उत्पत्ति या सत् वस्तु का विनाश भी नहीं होता। जैसा कि भगवद्गीता में कहा है—'असत् का अस्तित्व नहीं होता तथा सत् का अभाव नहीं होता' (गीता २।१६)। इस प्रकार कार्य के द्वारा अनुमान करके इन वस्तुओं के मूलकारण प्रधान या प्रकृति की सिद्धि की जा सकती है। उसे कहा है—

---

* तुलनीय—यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (गी० २।५८)

'[कारण में] कार्य विद्यमान है क्योंकि (१) असत् को कार्य के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता, (२) [कार्य की उत्पत्ति के लिए] उसके उपादान कारण (जैसे घट का मिट्टी, पट का सूत) का ग्रहण अवश्य करना पड़ता है अर्थात् कार्य अपने उपादान कारण से नियमपूर्वक संबद्ध रहता है। [यदि कार्य पहले से ही असत् हो तो उसका संबन्ध नहीं हो सकता], (३) सभी कार्य सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होते हैं [किसी विशेष कारण से विशेष कार्य उत्पन्न होता है, यदि कार्य कारण से असबद्ध रहता तो ऐसा संभव नहीं था], (४) जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में शक्त या समर्थ है, उससे उसी कार्य को उत्पत्ति होती है [मिट्टी में कल्पित शक्तिविशेष यदि घट से संबद्ध है तो घट को ही उत्पन्न करेगा] और (५) कार्य कारणात्मक अर्थात् उसी के स्वरूप का होता है (=कार्य और कारण अभिन्न होते हैं)।' (सां० का० ९)।

(८ क. विवर्तवाद का खंडन)

नापि सतो ब्रह्मतत्त्वस्य विवर्तः प्रपञ्चः। बाधानुपलम्भात्। अधिष्ठानारोप्ययोश्चिज्जडयोः कलधौतशुक्त्यादिवत्सारूप्याभावेनारोपासंभवाच्च।

आप यह भी नहीं कह सकते कि यह प्रपंच (संसार) उस सत् ब्रह्मतत्त्व का विवर्त अर्थात् कल्पित रूप है। कारण यह है कि [जैसे 'यह चाँदी नहीं, सीपी है' भ्रान्ति नष्ट होने पर ऐसे वाक्य से चाँदी का विरोध या बाध किया जाता है उस प्रकार 'यह संसार नहीं है' ऐसा] विरोध व्यवहार में नहीं मिलता। चेतन और जड जो क्रमशः आधार (अधिष्ठान, ब्रह्म) तथा आधेय (प्रपंच) हैं, उनमें चाँदी और सीपी की तरह की समानता न होने से परस्पर आरोप नहीं हो सकता। [सीपी और चाँदी में तो एकरूपता है कि दोनों ही उजले हैं, परन्तु भला ब्रह्म (चेतन) और संसार (जड) में किस पदार्थ को लेकर एकरूपता हो सकती है। आरोप का हेतु कोई सारूप्य न होने से ब्रह्म पर प्रपंच का आरोप संभव नहीं है। 'कलधौतशुक्त्यादि के समान' यह वैधर्म्य का दृष्टान्त है क्योंकि ब्रह्मप्रपंच के परस्पर सम्बन्ध के विरुद्ध है—जैसे कलधौत (चाँदी) और शुक्ति (सीपी) में समता है वैसे ब्रह्म और प्रपंच में नहीं। यदि कलधौत का अर्थ स्वर्ण लिया जाय तो साधर्म्य का ही दृष्टान्त हो जायगा—जैसे स्वर्ण (पीला) और सीपी (उजली) में समरूपता न होने से परस्परारोप नहीं होता वैसे ही ब्रह्म और प्रपंच में भी समरूपता न होने से आरोप नहीं होगा।]

(९. प्रधान या प्रकृति की सिद्धि)

ततश्च सुखदुःखमोहात्मकस्य प्रपञ्चस्य तथाविधकारणमवधारणीयम्। तथा च प्रयोगः—विमतं भावजातं सुखदुःखमोहात्मककारणकं तदन्वितत्वात्। यद्येनान्वीयते तत्तत्कारणकं यथा रुचकादिकं सुवर्णान्वितं सुवर्णकारणकम्। तथा चेदं, तस्मात्तथेति।

इसके बाद सुख, दुःख और मोह से बने हुए इस संसार का वैसा ही कारण विचारना चाहिए। इसके लिए [परार्थानुमान का] यह प्रयोग होगा—

(१) प्रतिज्ञा—ये सभी प्रस्तुत* पदार्थ सुख, दुःख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न हुए हैं।

(२) हेतु—क्योंकि ये उनसे (सुख-दुःख-मोह से) संयुक्त हैं।

(३) उदाहरण और व्याप्ति—जो जिससे संयुक्त रहता है वह उसी कारण से निकलता है। जैसे स्वर्णपात्र स्वर्णसंयुक्त है और स्वर्ण उसका कारण है।

(४) उपनय—यह (प्रस्तुत पदार्थ) भी वैसा (सुख दुःख मोह से संयुक्त) है।

(५) निगमन—इसलिए यह (संसार) भी वैसा (सुख, दुःख और मोह से बने किसी कारण से उत्पन्न) है।

[संसार का सुख दुःख मोह से बना कारण ही प्रकृति या प्रधान है। इसी अनुमान से उसका पता लगता है।]

तत्र जगत्कारणे येयं सुखात्मकता तत्सत्त्वं, या दुःखात्मकता तद्रजः, या च मोहात्मकता तत्तम इति त्रिगुणात्मककारणसिद्धिः। तथा हि—प्रत्येकं भावास्त्रैगुण्यवन्तोऽनुभूयन्ते। यथा

* विमत, विवादाध्यासित आदि शब्दों का प्रयोग पक्ष (Minor Term) के विशेषण के रूप में किया है। इसका अर्थ है—सन्दिग्ध या जिस पर वाद-विवाद चल रहा है वह विषय। अंगरेजी में इसे in question कहेंगे जैसे—विमतं वस्तु = Thing in question. मैंने 'प्रस्तुत' शब्द रखा है जो उपयुक्त है।

मैत्रदारेषु सत्यवत्यां मैत्रस्य सुखमाविरस्ति। तं प्रति सत्त्वगुणप्रादुर्भावात्। तत्सपत्नीनां दुःखम्। ताः प्रति रजोगुणप्रादुर्भावात्। तामलभमानस्य चैत्रस्य मोहो भवति। तं प्रति तमोगुणसमुद्भवात्।

यहाँ पर संसार के कारण (प्रकृति) में जो सुख का तत्त्व है वह सत्त्वगुण है. दुःख का तत्त्व रजोगुण और मोह का तत्त्व तमोगुण। इस प्रकार त्रिगुणात्मक कारण (= जगत्कारण) की सिद्धि होती है। वह इस रूप में होती है—संसार के सभी भावों (पदार्थों) में तीनों गुणों की सत्ता का अनुभव होता है। जैसे मैत्र की अनेक पत्नियों में सत्यवती नामक पत्नी से मैत्र को सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि मैत्र के प्रति सत्त्वगुण का प्रादुर्भाव होता है। [उसी सत्यवती से] उसकी सपत्नियों (Fellow-wives) को दुःख है क्योंकि उनके प्रति रजोगुण का प्रादुर्भाव होता है। उसे न प्राप्त करने वाले (प्राप्ति की इच्छा न रखनेवाले) चैत्र को उससे मोह (उदासीनता का भाव) है क्योंकि उस चैत्र के प्रति तमोगुण का प्रादुर्भाव होता है। [एक ही पदार्थ—सत्यवती—में तीनों गुणों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार सभी पदार्थों से सुख, दुःख और मोह की प्राप्ति होती है।]

एवमन्यदपि घटादिकं लभ्यमानं सुखं करोति। परैरपह्रियमाणं दुःखाकरोति। उदासीनस्योपेक्षाविषयत्वेनोपतिष्ठते। उपेक्षाविषयत्वं नाम मोहः। मुह वैचित्ये इत्यस्माद्धातोर्मोहशब्दनिष्पत्तेः। उपेक्षणीयेषु चित्तवृत्त्यनुदयात्। तस्मात्सर्वं भावजातं सुखदुःखमोहात्मकं त्रिगुणप्रधानकारणकमवगम्यते।

इसी तरह घट आदि दूसरे पदार्थ भी मिल जाने पर सुख देते हैं, दूसरों के द्वारा चुरा लिये जाने पर दुःख देते हैं किन्तु तटस्थ व्यक्ति के लिए उपेक्षा का विषय बन जाते हैं। उपेक्षा का विषय बन जाना ही मोह है। मुह-धातु का अर्थ होता है चित्त से रहित होना (= चित्त की वृत्तियों का शून्यवत् हो जाना)। इस धातु से ही 'मोह' शब्द बनता है। उपेक्षणीय वस्तुओं के प्रति चित्त की वृत्ति उगती ही नहीं। इसलिए सभी पदार्थ सुख, दुःख तथा मोह के बने हुए हैं। वे तीन गुणों से बने हुए प्रधान (प्रकृति) रूपी कारण से उत्पन्न हैं—यह मालूम होता है।

तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—

९. अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
(श्वे० ४।५) इति।

अत्र लोहितशुक्लकृष्णशब्दाः रञ्जकत्वप्रकाशकत्वावरकत्वसाधर्म्यात् रजःसत्त्वतमोगुणत्रयप्रतिपादनपराः।

श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति भी यही कहती है—'(सरूपाः) समान रूप वाली (बह्वीः) बहुत सी (प्रजाः) संतानों को (सृजमानाम्) उत्पन्न करने वाली (एकाम्) एक (लोहितशुक्लकृष्णाम्) लाल, उजली और काली (अजां) मूलप्रकृति की (जुषमाणः) सेवा करते हुए (एकः) एक दूसरा (अजः) अजन्मा पुरुष (अनुशेते) पीछे-पीछे चलता है। (अन्यः) वह दूसरा (अजः) अजन्मा पुरुष (एनाम्) इसका (भुक्तभोगां) भोग कर लेने पर (जहाति) छोड़ देता है।' (श्वेताश्वतर उपनिषद् ४।५)।

यहाँ लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण शब्द क्रमशः रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण—इन तीन गुणों का प्रतिपादन करते हैं क्योंकि इन शब्दों से क्रमशः रँगने वाले, प्रकाशित करने वाले तथा ढँक देने वाले धर्मों की समानता है।

विशेष—श्वेताश्वतर उपनिषद् की उक्त श्रुति को सांख्य में बड़ा महत्त्व देते हैं क्योंकि यहीं सांख्य-दर्शन के बीज प्राप्त होते हैं। बकरा-बकरी का रूपक देकर अध्यात्म-विद्या का उपदेश देने वाले श्लोक में सांख्य-दर्शन अपने तत्त्वों से विद्यमान है। मूल प्रकृति और पुरुष क्रमशः अजा और अज हैं क्योंकि दोनों अजन्मा हैं। तीन गुणों को ही प्रकृति कहते हैं। इन गुणों को आलंकारिक भाषा में लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा है। लाल रंग साड़ी आदि को रँग देता है, पदार्थों में रहनेवाला रजोगुण भी प्रेक्षकों को रँग देता है। इस प्रकार लाल रंग और रजोगुण में रञ्जकत्व धर्म साधारण (Common) है इसलिए लोहित से रजोगुण का बोध होता है। उजले पदार्थ जैसे सूर्य आदि प्रकाशक होते हैं, उधर सत्त्वगुण भी प्रकाशक है। बस, प्रकाशकत्व का धर्म समान होने से शुक्ल शब्द सत्त्वगुण का बोधक हुआ। काले पदार्थ जैसे मेघ आदि सूर्यादि के आवरक (ढँकने वाले) हैं। तमोगुण भी आवरक ही है, अतः कृष्ण शब्द का अर्थ

तमोगुण ही है। प्रकृति को जहाँ 'लोहितशुक्लकृष्णा' कहा है, वहाँ उसका अर्थ 'त्रिगुणात्मिका' है।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति अपने ही अनुरूप (=त्रिगुणात्मक) बहुत से पदार्थों की सृष्टि करती है। पदार्थों को प्रजा कहा गया है। बद्ध पुरुष इसी प्रकृति की सेवा में लगा रहता है। प्रकृति के कार्यों को (बुद्धि, मन आदि को) अपना ही समझ कर प्रकृति के साथ-साथ संसार में घूमता रहता है। दूसरा मुक्त पुरुष इस प्रकृति को छोड़ देता है क्योंकि वह प्रकृति का पुरुष से पार्थक्य जान लेता है। वह मुक्त पुरुष एक बार प्रकृति का भोग कर चुका है इसलिए प्रकृति उसके लिए 'भुक्तभोगा' है।

इस मंत्र में पूर्वार्ध प्रकृति के लिए है, उत्तरार्ध में पुरुष का वर्णन है जिसमें बद्ध और मुक्त दोनों तरह के पुरुषों का वर्णन हुआ है। दो प्रकार के पुरुष भी मानना सांख्यों के बहुपुरुषवाद का परिचायक है। वाचस्पति ने अपनी तत्त्व-कौमुदी का आरंभ इसी मंत्र की संगति बैठाकर किया है।*

(१०. प्रधान की निरपेक्षता)

नन्वचेतनं प्रधानं चेतनानधिष्ठितं महदादिकार्ये न व्याप्रियते। अतः केनचिच्चेतनेनाधिष्ठात्रा भवितव्यम्। तथा च सर्वार्थदर्शी परमेश्वरः स्वीकर्तव्यः स्यादिति चेत्—तदसंगतम्। अचेतनस्यापि प्रधानस्य प्रयोजनवशेन प्रवृत्त्युपपत्तेः।

यह शंका होती है कि अचेतन प्रधान (प्रकृति) किसी चेतन की सहायता लिए बिना महत् आदि कार्यों को उत्पन्न करने का काम नहीं कर सकती। [बिना चालक के मोटर गाड़ी नहीं दौड़ जाती। दृष्ट आधार पर ही तो अदृष्ट की सिद्धि होती है। बिना चेतन कर्ता की सहायता लिए अचेतन वस्तु कुछ भी काम नहीं करेगी।] इसलिए [प्रकृति के इस व्यापार के पीछे] किसी चेतन अधिष्ठाता (कर्ता) का रहना जरूरी है। ऐसी दशा में सभी पदार्थों को देखने वाले परमेश्वर को मानना पड़ेगा।

यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यद्यपि प्रधान अचेतन है फिर भी किसी विशेष प्रयोजन से वह प्रवृत्त होता है [और अपने व्यापार में लगता है]।

---

* अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमामः।
अजा ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्॥
(त० कौ० मंगल, १)

दृष्टं चाचेतनं चेतनानधिष्ठितं पुरुषार्थाय प्रवर्तमानं यथा वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनं क्षीरं प्रवर्तते, यथा च जलमचेतनं लोकोपकाराय प्रवर्तते, तथा प्रकृतिरचेतनापि पुरुषविमोक्षाय प्रवर्त्स्यति। तदुक्तम्—

१०. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥
(सां० का० ५७) इति।

यही देखते भी हैं कि अचेतन पदार्थ चेतन की सहायता लिये ही बिना मनुष्यों की अर्थसिद्धि के लिए प्रवृत्त होता है। जैसे बच्चे के पालन-पोषण के लिए अचेतन दूध प्रवृत्त है (माँ के स्तन में चला आता है) और जैसे अचेतन जल संसार के उपकार के लिए प्रवृत्त होता है उसी प्रकार प्रकृति अचेतन होने पर भी पुरुष के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होगी, [इसमें आश्चर्य क्यों करते हैं ?] यह कहा भी है—'जैसे बच्चे के पालन-पोषण के लिए (के प्रयोजन से) अज्ञ अर्थात् अचेतन दूध की भी प्रवृत्ति (क्रिया) देखी जाती है उसी प्रकार पुरुष की मुक्ति के लिए प्रधान या प्रकृति की प्रवृत्ति होती है।' (सां० का० ५७)।

विशेष—यहाँ लोग पूछ सकते हैं कि प्रधान की प्रवृत्ति से पुरुष का मोक्ष कैसे होता है ? मोक्ष का अर्थ है दुःख की निवृत्ति। दुःख की निवृत्ति तभी हो सकती है जब पुरुष और प्रकृति के भेद का ज्ञान हो जाय। प्रकृति अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दुर्गम है, इसलिए पुरुष को उससे अपने भेद का ज्ञान प्राप्त करना टेढ़ी खीर है। जब प्रकृति कार्योत्पादन में लगती है तब उसके बड़े-बड़े भौतिक कार्य स्थूल रूप से दिखलाई पड़ते हैं। पुरुष आसानी से उन पदार्थों से अपना भेद कर लेता है। फिर वह उन स्थूल कार्यों के कारण सूक्ष्म तत्त्वों से भी भेद कर लेता है। अन्त में सूक्ष्मतम प्रकृति से भी पार्थक्य का ज्ञान उसे हो जाता है। जैसे अरुन्धती नामक सूक्ष्म तारे को दिखलाने के लिए स्थूल तारों को दिखलाते-दिखलाते ध्यान केन्द्रित हो जाने पर अरुन्धती को दिखला देते हैं वैसे ही पुरुष को भी प्रकृति का ज्ञान होता है।

(१० क. परमेश्वर प्रवर्तक नहीं है)

यस्तु 'परमेश्वरः करुणया प्रवर्तकः' इति परमेश्वरास्तित्ववादिनां डिण्डिमः स गर्भस्रावेण गतः। विकल्पानुपपत्तेः। स किं

सृष्टेः प्राक्प्रवर्तते सृष्ट्युत्तरकालं वा ? आद्ये शरीराद्यभावेन दुःखानुत्पत्तौ जीवानां दुःखप्रहाणेच्छानुपपत्तिः । द्वितीये परस्पराश्रयप्रसङ्गः । करुणया सृष्टिः सृष्ट्या च कारुण्यमिति ।

परमेश्वर की सत्ता माननेवाले लोग (नैयायिक आदि) जो यह ढिंढोरा पीटते हैं कि परमेश्वर दया के कारण संसार की [रचना करने में] प्रवृत्त होता है, वह तो गर्भपात के समान नष्ट हो गया। कारण यह है कि इस दशा में इस पर उठाये गये विकल्पों का खंडन हो जाता है। क्या वह सृष्टि के पहले प्रवृत्त होता है या सृष्टि के बाद ? पहला विकल्प इसलिए ठीक नहीं कि शरीर आदि के अभाव में दुःख की उत्पत्ति नहीं होगी, [दुःख शरीर में ही होता है, जीवों का उस समय शरीर ही नहीं है] अतः जीवों में दुःख को हटाने की इच्छा (करुणा) नहीं मानी जा सकती [और कैवल्य या मोक्ष नहीं होगा।] यदि दूसरा विकल्प मानते हैं कि सृष्टि के बाद करुणा से ईश्वर प्रवृत्त होता है तब तो अन्योन्याश्रयदोष ही हो जायगा। करुणा से सृष्टि होती है (आपका अपना सिद्धान्त) और सृष्टि होने पर करुणा होती है (प्रसंग का आ जाना)।

(११. प्रकृति-पुरुष का संबन्ध)

तस्मादचेतनास्यापि चेतनानधिष्ठितस्य प्रधानस्य महदादिरूपेण परिणामः पुरुषार्थप्रयुक्तः प्रधानपुरुषसंयोगनिमित्तः। यथा निर्व्यापारस्याप्ययस्कान्तस्य संनिधानेन व्यापारस्तथा निर्व्यापारस्य पुरुषस्य संनिधानेन प्रधानव्यापारो युज्यते। प्रकृतिपुरुषसंबन्धश्च पङ्ग्वन्धवत् परस्परापेक्षानिबन्धनः। प्रकृतिर्हि भोग्यतया भोक्तारं पुरुषमपेक्षते। पुरुषोऽपि भेदाग्रहाद् बुद्धिच्छायापत्त्या तद्गतं दुःखत्रयं वारयमाणः कैवल्यमपेक्षते। तत्प्रकृतिपुरुषनिबन्धनं न च तदन्तरेण युक्तमिति कैवल्यार्थं पुरुषः प्रधानमपेक्षते।

इसलिए अचेतन होने पर भी तथा किसी चेतन सत्ता का आश्रय न लेने पर भी प्रधान का परिणाम (विकार) महत् आदि कार्यों के रूप में होता है जो पुरुष के लाभ के लिए उपयोगी एवं प्रधान और पुरुष के संयोग के लिए ही होता है। जैसे निष्क्रिय चुम्बक के भी संपर्क में आने से लोहे में क्रिया

उत्पन्न होती है उसी प्रकार निष्क्रिय पुरुष के संपर्क से प्रधान में क्रिया उत्पन्न होना युक्तियुक्त है।

प्रकृति-पुरुष का संबन्ध अंधे और लँगड़े की तरह परस्पर अपेक्षा पर निर्भर करता है। चूँकि प्रकृति स्वयं भोग्य है इसलिए भोक्ता पुरुष की अपेक्षा रखती है। पुरुष भी, भेद का ज्ञान नहीं रहने से तथा [अपने ऊपर] बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ जाने से, बुद्धिगत तीनों दुःखों को हटाते हुए मोक्ष चाहता है। [बुद्धि प्रकृति का एक परिणाम है किन्तु जब इसकी छाया पुरुष पर पड़ जाती है तब उससे अपना अंतर न जान कर यह पुरुष बुद्धि में उत्पन्न सुख, दुःख आदि को अपना सुख, दुःख ही समझने लगता है। अतः उनके निवारण के लिए उसे मोक्ष की अपेक्षा रहती है।] यह मोक्ष (कैवल्य) प्रकृति और पुरुष [के भेद-ज्ञान] पर निर्भर करता है, उसके बिना यह नहीं हो सकता इसलिए कैवल्य की प्राप्ति के लिए पुरुष [भेदज्ञान के लिए भेद के प्रतियोगी] प्रधान की अपेक्षा रखता है।

यथा खलु कौचित्पङ्ग्वन्धौ पथि सार्थेन गच्छन्तौ दैवकृतादुपप्लवात्परित्यक्तसार्थौ मन्दमन्दमितस्ततः परिभ्रमन्तौ भयाकुलौ दैववशात्संयोगमुपगच्छेताम्। तत्र चान्धेन पङ्गुः स्कन्धमारोपितः। ततः पङ्गुदर्शितेन मार्गेणान्धः समीहितं स्थानं प्राप्नोति, पङ्गुरपि स्कन्धाधिरूढः। तथा परस्परापेक्षप्रधानपुरुषनिबन्धनः सर्गः। यथोक्तम्—

११. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संबन्धस्तत्कृतः सर्गः॥
(सां० का० २१) इति।

जैसे कोई अंधा और लँगड़ा राह में किसी दल के साथ जा रहे थे। किसी दैवी उपद्रव से दल से उनका साथ छूट गया। वे बेचारे डर के मारे इधर-उधर घूम रहे थे कि दैवयोग से उनका मिलन आपस में ही हो गया। अब अन्धे ने लँगड़े को अपने कन्धे पर चढ़ा लिया। तब लँगड़े के दिखलाये रास्ते पर चलते-चलते अन्धा अपने अभीष्ट स्थान पर पहुँच गया। लँगड़ा भी कन्धे पर चढ़े-ही-चढ़े [आसानी से वहाँ पहुँच गया]।

उसी प्रकार परस्पर अपेक्षा रखने वाले प्रधान और पुरुष के कारण सृष्टि (सर्ग) चलती है। जैसा कि कहा है—'[प्रधान अपने कर्मों को] दिखलाने के

लिए पुरुष की अपेक्षा रखता है और उसी तरह [पुरुष अपने] कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रधान की अपेक्षा करता है—इस तरह दोनों का संबन्ध पंगु और अंध के समान है जिससे सृष्टि उत्पन्न होती है।' [पंगु को गतिशक्ति नहीं है वह अपने स्थान पर जाने के लिए गतिमान् व्यक्ति की अपेक्षा रखता है तो अंधा मिलता है। उधर अंधा दृष्टिशक्ति से रहित है तो उसे दृष्टिमान् लँगड़े की सहायता मिलती है। दोनों का परस्पर संयोग हो जाता है। यहाँ पुरुष निष्क्रिय होने के कारण पंगु के समान है, प्रधान अचेतन होने के कारण अंधे की तरह है। लँगड़े के संबन्ध से अंधा मार्ग में चल पड़ता है, वैसे ही पुरुष के संबन्ध से प्रधान प्रवृत्त होता है। अंधे के संबन्ध से पंगु अभीष्ट स्थान पर पहुँचता है वैसे ही प्रधान के संबन्ध से पुरुष विवेकज्ञान के द्वारा मोक्ष पाता है।] (सां० का० २१)।

विशेष—सांख्य के प्रकृति-पुरुष-संबन्ध में जो अंधा-लँगड़ा की उपमा दी गई है उसकी घोर आलोचना हुई है। प्रायः लोगों ने संकेत किया है कि अंधा और लँगड़ा दोनों ही चेतन हैं आपस में साथ चलने के लिए समझौता कर सकते हैं। यह दूसरी बात है कि वे एक-एक इन्द्रिय से रहित हैं। प्रकृति और पुरुष में कोई धर्म समान नहीं, एक जड़ है, दूसरा चेतन। दोनों में समझौता कैसे हो सकता है ?

(१२. प्रकृति की निवृत्ति—प्रलय)

ननु पुरुषार्थनिबन्धना भवतु प्रकृतेः प्रवृत्तिः। निवृत्तिस्तु कथमुपपद्यत इति चेत्—उच्यते। यथा भर्त्रा दृष्टदोषा स्वैरिणी पुनर्भर्तारं नोपैति, यथा वा कृतप्रयोजना नर्तकी निवर्तते तथा प्रकृतिरपि। यथोक्तम्—

१२. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥
(सां० का० ५९) इति।

एतच्च निरीश्वरसांख्यशास्त्रप्रवर्तककपिलादिमतानुसारिणां मतमुपन्यस्तम्॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे सांख्यदर्शनम्॥

अब शंका होती है कि प्रधान की प्रवृत्ति भले ही पुरुष के काम के लिए हो, पर उसकी निवृत्ति कैसे होगी ? इसका उत्तर है कि जैसे पति के द्वारा दोष देख लिये जाने पर स्वेच्छाचारिणी स्त्री फिर अपने पति के पास लौट कर नहीं आती अथवा जैसे अपना काम समाप्त कर लेने पर नर्तकी चली जाती है वैसे ही प्रकृति भी [पुरुष को अपना कार्यसमूह या परिणाम दिखाकर निवृत्त हो जाती है।] जैसा कहा गया है—'दर्शक-मंडली को [नृत्य] दिखाकर जैसे कोई नर्तकी अपने नृत्य से अलग हो जाती है वैसे ही पुरुष को अपना स्वरूप (स्थूल परिणाम) दिखला कर प्रकृति भी निवृत्त हो जाती है।' (सां० का० ५९)।

निरीश्वर सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल आदि आचार्यों का मत माननेवाले लोगों का यह सिद्धान्त यहाँ उपस्थित किया गया है।

इस प्रकार श्रीसायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में सांख्यदर्शन समाप्त हुआ।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां सांख्यदर्शनमवसितम् ॥